बचपन की अवधारणा और बाल साहित्य

कृष्ण कुमार

एकलव्य द्वारा प्रकाशित बाल साहित्य पत्रिका 'चकमक' के 300वें अंक के विमोचन के अवसर पर आयोजित कार्यक्रम के दौरान 'शिक्षा में बाल साहित्य की भूमिका' विषय पर कृष्ण कुमार द्वारा दिए गए वक्रतव्य का दूसरा हिस्सा पढ़िए।

अब कुछ समय हम उस दूसरे वाले शब्द पर बात करें, 'बाल साहित्य', बच्चों का साहित्य। क्या ज़रूरत है हमको बच्चों के अलग से साहित्य की? इस प्रश्न पर दरअसल हमने अपने परिवेश में विचार नहीं किया। हम लोगों ने सोचा कि दुनिया के और देशों में बाल साहित्य होता है तो हमारे यहाँ भी होना चाहिए। उससे बाल साहित्य की शक्ल भी कुछ इस तरह से बन गई है कि जैसा वहाँ होता है वैसा हमारे यहाँ होना चाहिए। इस पर बहुत कम लोगों ने गौर किया है कि दरअसल बाल साहित्य दुनिया के हर देश में नहीं लिखा गया।

अगर आप यूरोप के दो प्रमुख देशों पर ही विचार करें, ब्रिटेन और फ्रांस। दोनों ही बहुत बड़ी औपनिवेशिक शक्तियाँ रही हैं। दोनों ही भाषाओं के साहित्य के साथ कुछ समय बिताएँ या उनकी किताबें देखें तो आप थोड़ा हैरत में पड़ जाएँगे। जहाँ एक तरफ 19वीं सदी का ब्रिटेन बाल साहित्य के विषय की दृष्टि से बहुत ही उर्वर सिद्ध हुआ, वहीं फ्रांस में बाल साहित्य के नाम पर कुछ विशेष नहीं हुआ। बल्कि 20–25 वर्षों से बाल साहित्य को लेकर फ्रांस में एक विमर्श चल रहा है और कुछ लोग कोशिश करते रहे हैं कि हम बच्चों के लिए अलग से कुछ लिखें। आज भी फ्रांस में उस तरह से बाल साहित्य का कोई लम्बा–चौड़ा विस्तार नहीं है, न ही कोई इतिहास है। बच्चों के लिए किताबें हैं लेकिन अगर इनकी तुलना ब्रिटेन के बाल साहित्य से करेंगे तो आप उसे विपन्न पाएँगे, भले ही फ्रांस के लोग कभी नहीं मानते कि हम किसी भी दृष्टि से विपन्न हैं। लेकिन अगर आप बाहर से तुलना करेंगे तो ऐसा लगेगा। बहरहाल मेरा उद्देश्य इन दोनों समाजों के बीच तुलना करने का नहीं था। मेरा उद्देश्य यह था कि हम इस पर विचार करें कि बाल साहित्य किन परिस्थितियों में जन्म लेता है। क्यों जन्म लेता है। इस तुलना से शायद हमें इस प्रश्न का उत्तर देने में कुछ मदद मिले।

कुछ और देशों की तरफ गौर करें तो आप कुछ और पाएँगे, जैसे रूस में रूसी क्रान्ति के बाद बाल साहित्य को एक तरह की मुहिम बनाया गया। और उस मुहिम के ज़रिए बहुत सारा बाल साहित्य लिखा गया। उसमें से काफी बाल साहित्य हमारे देश में भारत–सोवियत मैत्री के तहत आज़ादी के बाद के लगभग तीन–साढ़े तीन दशकों तक, बड़े पैमाने पर प्रसारित किया गया जब तक सोवियत संघ का विघटन नहीं हो गया। अगर कोई भारतीय बाल साहित्य प्रकाशन उद्योग की अर्थ–व्यवस्था का अध्ययन करेगा तो वह ज़रूर यह महसूस करेगा कि इस अर्थ–व्यवस्था में खेलने के लिए समतल मैदान नहीं था। कोई कितना भी अच्छा बाल साहित्य का प्रकाशक होता वो सोवियत संघ से आई सरकारी सबसिडी प्राप्त, रंग–बिरंगी, अच्छे कागज़ पर छपी हुई किताबों की कीमतों का मुकाबला नहीं कर सकता था। और इसलिए 50 के, 60 के और 70 के दशकों में आज़ादी के पहले से विकसित हो चुका बाल साहित्य का हिन्दी उद्योग, पल्लवित होने की बजाय मुरझाता चला गया और एक के बाद एक पत्रिकाएँ बन्द होती चली गईं। कई प्रकाशन समूह तो बिलकुल ही बन्द हो गए या बाल साहित्य को छापना उन्होंने बन्दकर दिया। शायद सबसे मशहूर किस्सा इंडियन प्रेस, इलाहाबाद का है। और यह क्रम चलता रहा।

इस बीच सोवियत साहित्य फैला, प्रसारित हुआ। बहुत–से लोगों ने उसी को बाल साहित्य के प्रसार का मानक बना लिया। चूँकि उसके साथ कई और चीज़ें जुड़ी हुई थींय प्रगतिशीलता की अवधारणा जुड़ी हुई थी, बहुत–सी प्रेरणा का स्रोत भी सोवियत संघ था, उन कारणों से ही उस साहित्य का प्रसार हुआ। पर कीमत भी एक बहुत बड़ा कारण था। फ्रांस, जर्मनी आदि देशों की तुलना में ब्रिटेन में 19वीं सदी व उसके बाद से लगातार और सोवियत संघ में मुख्यतः 1920 के बाद, बाल साहित्य के लिए सबसे उपयुक्त समय सिद्ध हुआ।

बच्चों का बचपन

इन तमाम चीज़ों पर विचार करने से हमको कुछ लाभ मिलेगा। इसलिए क्योंकि जिसको हम 'बाल' कह रहे हैं उसकी सामाजिक व्याप्ति, उसका जन्म दरअसल हमारे बीच अब हो रहा है। अभी भी उसमें बहुत–सी बाधाएँ हैं। जिसको हम बालक या बालिका कहते हैं, बच्चा कहते हैं, भारत वर्ष की बहुत लम्बी सभ्यता

के इतिहास में उसका सामाजिक जन्म अभी पूरी तरह होना बाकी है। बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक सुधीर कक्कड़ अपने ढंग से इस बात को कहते रहे हैं कि दरअसल हमारे समाज में शैशव की अवधारणा तो है, लेकिन बचपन की नहीं है। और किशोरावस्था की तो लगभग नहीं के बराबर है। अभी ये केवल शब्द हैं जिनको शिक्षा शास्त्र का हिस्सा बनाया जाता है। तीन–चार वर्ष की आयु बीतने के बाद से हमारे समाज, हमारे परिवार में बच्चे से की जाने वाली अपेक्षाएँ दरअसल उसे वयस्क बनाने की तैयारी होती हैं। वे बचपन को स्वीकृति नहीं देतीं। लड़कियों के बचपन को तो उस समय भी स्वीकृति नहीं देतीं जब वे शैशव काल में होती हैं। तो उसके बाद से तो खैर उनका बचपन होता ही नहीं है।

बांग्ला में बचपन के लिए ऐसा कोई शब्द ही नहीं है जो लड़कियों को भी शामिल कर सके। छेले बैला जो शब्द है वह मुख्यतः लड़कों के लिए है, "लड़कों का यह बचपन होता है।" अन्नपूर्णा देवी के उपन्यास आपको याद दिलाते हैं कि लड़कियों का तो कोई बचपन होता नहीं है। बाल विवाह की दृष्टि से देखें तो हमारे सामने तकलीफ का, उत्पीड़न का एक बहुत भयानक इतिहास है जो भारत की संस्कृति का, आधुनिक युग की संस्कृति का भी इतिहास है, जिसके ज़रिए आधा बचपन तो गायब हो जाता है। जहाँ तक लड़कों का सवाल बचता है, उसको लेकर भी ये जो वर्ष हैं उनको पश्चिमी दुनिया में खासकर ब्रिटेन और अमेरीका की अँग्रेज़ी भाषी दुनिया में बाल साहित्य के वर्ष या सबसे सुनहरे वर्ष बताया जाता है। इन्हें हमारे समाज में सामाजिक रूप से गढ़ा जाना शुरू हो सका है, परन्तु यह अभी बहुत विकसित नहीं हो पाया है। ये वर्ष हैं 5 से 11 या 12 वर्ष – जिनको लेकर मनोविज्ञान में अनेक व्याख्याएँ की गई हैं कि ये वो वर्ष हैं जिनमें जीवन के शैशवकाल की यौनिकता नीचे चली जाती है। और एक उद्यमी बच्चे का उदय होता है जो हर चीज़ छूना, उलटना–पलटना, दुनिया को समझना चाहता है। उसके बारे में बोलना चाहता है, सुनना चाहता है। तरह–तरह का वह विस्तार कर रहा होता है। वह अपनी गति बढ़ाना चाहता है। नए–नए यंत्रों के ज़रिए वो दुनिया पर काबू पाना चाहता है। यही वो वर्ष हैं जिन वर्षों में स्कूल शुरू होता है और स्कूल अपने ढंग से बच्चे को सम्भालना शुरू करता है।

बचपन की अवधारणा और स्कूल

अगर आप प्राथमिक स्कूल के इन वर्षों पर विचार करें जो 5–6 वर्ष से शुरू होते हैं, आजकल तो प्राथमिक से भी पहले ही स्कूल शुरू हो जाता है। इसलिए बहुत–से लोग कहेंगे कि आप तीन साल से शुरू करिए, फिर भी अगर आप 4–5 साल से भी शुरू करें और गौर करें कि इन वर्षों में क्या समस्याएँ हैं शिक्षा के सामने, तो आप पाएँगे कि सबसे बड़ी समस्या ही यही है कि प्रशिक्षित शिक्षक भी नहीं समझता है कि इन वर्षों से गुज़रा हुआ बालक इन वर्षों की विशेषताओं में बहुत वर्षों तक नहीं रहता।

ये एक तरह का ऐसा दौर है जिससे बच्चा गुज़र रहा है। दरअसल उसका जीवन इसके बाद शुरू होगा। इसलिए इन वर्षों में जो लक्षण, जो समस्याएँ प्रकट हो रही हैं, इनको बहुत ज़्यादा गम्भीरता से देखना उचित है क्या? क्या अर्थ है इसका? इन वर्षों में बच्चे सब कुछ करना चाहते हैं। हरेक अनुभव से गुज़रना चाहते हैं। लेकिन हमारे समाज में इन वर्षों में जब कोई बच्चा किसी चीज़ में बहुत ज़्यादा रुचि लेता है, तो हम सोचते हैं कि वो वैसा ही कुछ बनना चाहता है जिस चीज़ में वो रुचि ले रहा है। जबकि वो केवल उन चीज़ों से गुज़रना चाहता है। हो सकता है एक–दो साल के लिए चित्रकला में बहुत रुचि ले, तो हमें लगने लगता है कि यह चित्रकार बनने जा रहा है तो हम उसे चित्रकला में आगे बढ़ाएँ। और हम देखते हैं कि बच्चा छह–आठ महीने बाद चित्र बनाना छोड़ देता है। हम निराश होते हैं कि हमने इतना पैसा खर्च किया। उसके लिए ब्राश लाए, रंग लाए, कागज़ लाए – ये सब हुआ लेकिन उसने इस चीज़ को भी छोड़ दिया। बच्चा एक क्रम से गुज़ररहा है जिसमें वो अनेक मनोदशाओं से गुज़रेगा। क्योंकि वो जीवन के तमाम आयामों को अपने स्तर पर छू रहा है।

इसके ज़रिए ही संज्ञानात्मक विकास होगा। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूप रेखा जब लिखी जा रही थी तो इन वर्षों के बारे में भी कुछ पंक्तियाँ लिखना थीं। बहुत–से लोग तो इन पंक्तियों को शुरू से ही विवादग्रस्त वातावरण में महसूस कर रहे थे। विशेषज्ञों ने यह लिखा कि कक्षा 1 से लेकर 4 तक मेहरबानी कर के बच्चे की किसी गलती को मत सुधारिए, न ही उसको बताइए कि वर्तनी में ये गलतियाँ हो रही हैं, उच्चारण में वो गलतियाँ हो रही हैं। या वाक्य विन्यास में यह गलती हो

रही है, कुछ भी मत बताइए। उसको लिखने दीजिए, बोलने दीजिए, पढ़ने दीजिए, सुनने दीजिए। चौथी कक्षा से जब वो गुज़र जाए तब फिर इन सब चीज़ों के बारे में समय निकालिएगा और वो भी एक–एक करके, इकट्ठा मत ठीक कर दीजिएगा कि बिलकुल आप उसको रीडर की जगह प्रूफ–रीडर बना दें।

कुछ इस तरह का मामला हमारे स्कूलों में होता है। आप जाते हैं कक्षा 1 में, बच्चे स्कूल में आकर अभी–अभी बोलने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन सबसे पहले हमारा ध्यान उनके उच्चारण पर जाने लगता है। बड़ी मुश्किल से दो–दो, तीन–तीन अक्षरों के शब्द बना रहे हैं और अभी से अक्षरों की आकृतियों को लेकर हम चिन्तित हैं या मात्राओं के सहीपन को लेकर चिन्तित हैं इत्यादि। ये सब चीज़ें दिखाती हैं कि समाज में बच्चे के इन वर्षों को लेकर ऐसी कोई व्यापक समझ नहीं है। और न ही शिक्षकों में ऐसी समझ है कि ये वर्ष दरअसल उगने के वर्ष हैं। फलने, फूलने, फैलने के वर्ष हैं। इन वर्षों में बच्चों में क्षमताओं का विस्तार होगा। और जब वह विस्तार होता है तो ज़ाहिर है कि गलतियाँ होती हैं, चोटें भी लगती हैं। तरह–तरह की विकृतियाँ भी उत्पन्न होती हैं। पर भगवान ने उन्हें बहुत समय दिया है, इन्हें ठीक करने के लिए।

अब अगर हम विश्वासपूर्वक इन वर्षों में बच्चों को उगने दें, इस दृष्टिकोण से अगर देखें तो आप पाएँगे कि जिसको हम बचपन कहते हैं दरअसल हमारे समाज में अभी उसका आविर्भाव हो रहा है। हम किस तरह का उसका आविर्भाव कर रहे हैं? फिलहाल उसका आविर्भाव केवल कानूनी मदद से कर पा रहे हैं। यह अपने आप में एक बहुत बड़ा चिन्ता का लक्षण है कि कानून से जब किसी चीज़ की शुरुआत होती है, तो वो चीज़ समाज में, संस्कृति में व्यापकता पाते–पाते बहुत समय लेती है। यह चीज़ हमने कई माध्यमों से जानी है। जैसे कि हमने देखा कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध में एक कानून बना था कि छोटी बच्चियों की हत्या नहीं करना चाहिए। लेकिन आज, सौवर्ष बाद छोटी बच्चियों की भ्रूण में ही हत्या नए सिरे से जन्म ले रही है। वो कानून कभी सफल नहीं हो पाया।

इसका मतलब समाज और संस्कृति में वो व्याप्त नहीं हो सका। बाल विवाह के खिलाफ कानून का भी यही इतिहास है। 1929 के बाद तीन बार बदला गया है। सबसे हाल में 2006 में बदला गया। 2006 वाले कानून में लिखा हुआ है कि हर

ज़िले में एक अधिकारी नियुक्त होगा जो बाल विवाह पर नज़र रखेगा और इस तरह की एक सूची बनाएगा। देश के किसी ज़िले में अभी तक वह अधिकारी नियुक्त नहीं हो सका।

ज़ाहिर है कि कुछ ऐसे मसले हैं जिन पर संस्कृति या समाज और राज्य के बीच एक संघर्ष चल रहा है। यह संघर्ष स्वतंत्रता आन्दोलन में बहुत बड़े पैमाने पर चला। कई मुद्दों पर चला। यहाँ तक कि लोकमान्य तिलक ने भी बाल विवाह को नियंत्रित करने वाले कानून का विरोध ही किया था। इन तमाम चीज़ों को हमें इसलिए सोचना होगा क्योंकि हम जिस चीज़ को आज थोड़ा–बहुत अपने बीच पा रहे हैं यानी बचपन की अवधारणा, उसको लेकर हमें स्वयं सोचना है कि अभी यह बहुत ही नाजुक पौधा है जिसके इर्द–गिर्द बाड़ लगानी होगी तब जाकर वो किसी हद तक पल्लवित हो पाएगा।

बचपन की अवधारणा के हिसाब से अगर भारत के आज के समाज पर गौर करें तो आप देखेंगे कि उसकी सम्भावनाएँ ही देश के करोड़ों बच्चों के लिए बहुत ही क्षीण हैं। कुपोषण की दुनिया में अगर चलें, आप लोगों से पूछें कि भाई भारत में कुपोषण के आँकड़े क्या कहते हैं तो आप पाएँगे और ये आँकड़े बताते हैं कि 75 प्रतिशत से ऊपर बच्चे 6 से 8 वर्ष की आयु में कुपोषित पाए जाते हैं। लड़कियों में यह आँकड़ा 85 प्रतिशत से ऊपर है।

ऐसी स्थिति में जब बच्चे के स्वास्थ्य को समाज इतनी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, खासकर गरीबों के बच्चों को, तो ज़ाहिर है कि हमें मानना पड़ेगा कि बचपन के वर्ष अभी हमारे लिए राष्ट्रीय चिन्ता के वर्ष नहीं बने, केवल कानूनी चिन्ता के वर्ष बने हैं। वो भी इसलिए क्योंकि यह कानून अभी हाल में पास हो सका है और वो भी लम्बे संघर्ष के बाद, उसको पास होने में भी करीब छह साल लग गए। कानून कहता है कि 8 वर्ष की स्कूली शिक्षा हर बच्चे का बुनियादी अधिकार है। इस कानून को लेकर भी तमाम तरह की बहसें अभी भी चल रही हैं, लेकिन इस कानून के ज़रिए कम–से–कम यह स्वीकारा गया है कि हाँ, बच्चे का भी कोई अधिकार होता है। उसके लिए कुछ और लोग लड़ सकते हैं, बच्चा स्वयं भले न लड़ सके।

आशय यह है कि यह एक तरह का उषा काल है। इसमें बहुत–सी चीज़ें साफ दिख रही हैं, बहुत–सी चीज़ें साफ नहीं दिख रही हैं। जिस तरह सुबह का समय होता है, स्पष्टता से कोई चीज़ नज़र नहीं आती। इसलिए हमारे जो साथी बाल साहित्य की व्याप्ति को लेकर चिन्तित हैं, परेशान हैं कि शिक्षा के साथ इसका रिश्ता क्यों नहीं बन पा रहा ठीक से, उनको यह ज़्यादा बृहत्तर दृश्य देखकर कुछ–न–कुछ सांत्वना और प्रेरणा भी ग्रहण करना चाहिए कि यह एक शुरुआत है बहुत बड़े समाज में, जहाँ अभी बहुत–सी बुनियादी समस्याएँ हैं। उस समाज में बच्चे की अवधारणा बहुत आहिस्ता–आहिस्ता तमाम तरह के अवरोधों के साथ आगे बढ़ रही है। एक जैविक अवधारणा सामाजिक अवधारणा में तब्दील हो रही है कि बच्चा सिर्फ एक जैविक छोटा प्राणी नहीं है जो कि बड़े का एक छोटा संस्करण हो, उसका अलग व्यक्तित्व है। प्लेटो ने दो सहस्राब्दि पहले कहा था कि बच्चा दरअसल बड़ों के बीच एक विदेशी की तरह होता है, जैसे आप किसी विदेशी से जिसकी भाषा आपको न आती हो जब बात करते हैं तो आपको मालूम होता है कि मेरी कई बातें वो ठीक समझेगा, कई नहीं समझेगा या गलत समझ जाएगा और जब वो कुछ बोलता है, अपनी भाषा में बोलता है और हमको उसकी भाषा नहीं आती तो हम भी उसकी पूरी बात नहीं समझ पाते। कुछ समझते हैं, कुछ नहीं समझते हैं, और इस तरीके से जो आदान–प्रदान होता है वह आधा–अधूरा ही रहता है।

प्लेटो ने ज़रूर इस रूपक को यह सब सोचकर रखा होगा कि जब बच्चों से लोग बात करते हैं तो केवल इस कारण कि ये बच्चा मनुष्य जैसा दिखता है, ये न सोचें कि ये मेरी बात को समझेगा और मैं इसकी बात को समझूँगा। उनके बीच में ये गुंजाइश रहे कि वे दोनों ही एक–दूसरे की बात को नहीं समझ पाएँगे। सम्प्रेषण का एक बहुत बड़ा क्षेत्र रहेगा जो अँधेरे में रहेगा। ज़ाहिर है, उस समय इतना मनोविज्ञान विकसित नहीं हुआ था कि प्लेटो यह समझ सकता कि क्यों अँधेरा रहता है। लेकिन उसने फिर भी एक बहुत बड़ी बात कही थी और इस आधार पर यह अनुशंसा भी की थी कि अपने बीच में जैसा सम्मान हम विदेशियों को देते हैं, वैसा ही सम्मान हमें बच्चों को भी देना चाहिए। अभी तो समझ में नहीं आ रहा है, लेकिन क्या पता बाद में वही सही निकले। वैसे भी बाद में वही रहेगा, हम तो रहेंगे

नहीं। तो इस नाते कम–से–कम एक संस्कार रखने की कोशिश प्लेटो ने की थी। और पिछले 2000 सालों पर गौर करें तो ऐसे कई लोग हुए जिन्होंने हमें याद दिलाया कि बच्चों को गम्भीरता से लेने की ज़रूरत है। हमारे देश में भी ऐसे लोग लगातार होते रहे हैं। अगर सूर के शब्दों पर विचार करें जिन्होंने अपने पदों के ज़रिए बच्चों की झूठ बोलने की प्रवृत्ति पर, बहाना बनाने, छिपने की प्रवृत्ति पर विचार किया था और यशोदा को एक ऐसी माँ के रूप में स्थापित किया जो ये सब सहन करती हैं और बहाना सुन के कहती नहीं हैं कि मुझे पता है कि ये तुम्हारा बहाना है बल्कि गले लगा लेती हैं, तो सूर कौन–सा रूपक रच रहे थे। वो वही रूपक रच रहे थे कि बच्चों की दुनिया में लोकपाल बनने की कोशिश मत कीजिए। उनको छिपने की जगह दीजिए। उनको झूठ बोलने की जगह दीजिए। उनको बहाना बनाने की जगह दीजिए। उनको अपनी कल्पना की दुनिया में रहने का मौका दीजिए। इसको लेकर अनेक परम्पराएँ हैं, लोक आख्यान हैं, कोई कमी नहीं है।

एक कहानी– कुछ विचार

मिसाल के तौर पर आप 'खरगोश और शेर' की कहानी पर विचार करें जो कि पंचतंत्र की सबसे लोकप्रिय कहानी में गिनी जाती है। मूल रूप से इसमें क्या होता है? खरगोश वहाँ एक बच्चे की तरह से है। बहुत छोटा खरगोश है जिसके लिए यह तय कर दिया गया है कि आज वह शेर के हाथों मारा जाने वाला है। क्योंकि शेर बूढ़ा हो चुका है उसको खाने के लिए रोज़ जानवरों ने कुछ–न–कुछ भेजने का निर्णय लिया है। खरगोश को यह पता लगता है कि आज तो उसे जाना है। खरगोश के पास अनुभव नहीं है। क्या होता है शेर और शेर के सामने जाना, ये सब उसको नहीं पता है। ज़ाहिर है, माता–पिता उस दिन मायूस होंगे। हम तो अपने बच्चे को भेज रहे हैं। सोचा होगा क्यों उसे नाश्ता खिलाएँ, बरबाद करें। उसको तो मरना ही है। माँ सोच रही होगी कि कैसा क्षण है। लेकिन खरगोश चूँकि उस अनुभव से मुक्त है, जो कि शेर के सामने जाने पर होता है, इसलिए उसके मन में उस तरह के भाव नहीं हैं। वह देख रहा है कि माता–पिता बहुत घबराए हुए हैं।

ज़ाहिर है कि कुछ–न–कुछ संकट होगा। वह रास्ते में क्या करता है, पंचतंत्र की कथा हमें नहीं बताती, हालाँकि हमें सिर्फ इतना बताती है कि जब वह पहुँचा दोपहर में, तब उसने क्या किया।

ये बताती है कि उसने शेर से कहा कि रास्ते में इसलिए हमें देर हो गई क्योंकि रास्ते में आपके जैसा एक और प्राणी हमें पानी में दिखाई दिया। आप जानते ही हैं कि शेर होने का अर्थ ही यही होता है कि प्रतिद्वन्द्विता स्वीकार न हो, इसी को तो शेर कहते हैं। इसलिए शेर ने कहा, "पहले उससे निपट लूँ फिर मैं अपनी भूख शान्त करूँगा।" इस बहाने खरगोश उसको ले गया उस कुएँ के पास जहाँ शेर को अपनी आकृति दिखाई दी, ठहरे हुए पानी में। और वह कूद पड़ा पानी में और मर गया, ये कहानी है।

जो इस कहानी को किताब के रूप में छापते हैं, नीचे लिखते हैं कि इस कहानी से आपको क्या शिक्षा मिलती है। तो उत्तर यही होगा कि इस कहानी से हमको यह शिक्षा मिलती है कि झूठ बोलकर जीवन की रक्षा की जा सकती है। लेकिन अगर आप थोड़ा और गौर से विचार करें, थोड़ा और आगे चलें कि क्या किया होगा इस खरगोश ने, तो दो सम्भावनाएँ बनती हैं। या तो उसने देखा होगा कि जब भूख लगती है और भूख बहुत समय तक लगी रहती है तो लोगों का अपने ऊपर से नियंत्रण खो जाता है। उसने घर में ज़रूर ये देखा होगा कि पिताजी खासकर आग बबूला हो जाते हैं अगर खाना थोड़ी देर से बने, या ठीक से न बना हो। तो उसने यह सोचा होगा कि मैं और कुछ तो कर नहीं सकता।

मुझे बता रहे हैं कि शेर ने मुझे खाने के लिए बुलाया है तो क्यों नहीं मैं थोड़ा देर से जाऊँ। क्योंकि खरगोश के लिए, आपको पता है कि देर से चलना बड़ा मुश्किल काम है। स्वाभाविक गति उसकी बड़ी तेज़ है। तो उसने अपने ऊपर नियंत्रण किया होगा कि मैं किसी तरह से देर से पहुँचूँ जिससे शेर इतना क्रोधित हो जाए कि क्रोध में आपा खो बैठे। और फिर मैं उनसे कुछ भी नहीं कहूँगा, देखा जाएगा। या तो उसकी कुछ यह रणनीति रही होगी कि भई सुबह–सुबह न पहुँचें, दोपहर में पहुँचें। थोड़ी गर्मी भी हो जाएगी तब वह भूख के मारे पागल भी हो जाएगा।

या मेरी एक और थीसिस है इसको लेकर। मेरा एक अनुमान है कि इस खरगोश को, जैसा कि बच्चों का स्वभाव होता है कि आसपास डोलते रहते हैं, मण्डराते रहते हैं, चीज़ों को देखते रहते हैं तो जंगल का ज्ञान खूब था कि कहाँ क्या है और ज़रूर रास्ते में ऐसा कोई सूखा हुआ या बहुत कम पानी वाला कुआँ उसने कई बार इधर–उधर मण्डराते हुए देखा होगा। ऐसे अवसरों पर जब आदमी थोड़ा चिन्तित हो, ऐसी जगह पर जाता है। तो हो सकता है यह खरगोश उस दिन वहाँ गया हो। और वहाँ यह देखकर कि इसमें कुछ पानी है, अचानक उसके मन में आर्किमिडीज़ की तरह यह सिद्धान्त आया हो कि अपनी छाया अपने जैसी दिखाई देती है और अपनी छाया से बड़े– बड़े भी मोहित हो जाते हैं।

पंचतंत्र के समय नार्सिस का जो आख्यान है, ज़रूर जीवित रहा होगा। वो विश्व का पहला ऐसा मनुष्य कहा जाता है जो अपनी ही आकृति से मोहित हो गया। हमारे समय में इतनी बड़ी–बड़ी अभिनेत्रियाँ, इतने अभिनेता उस परम्परा में चल रहे हैं। सुबह अपने को आइने में देखते हैं तो अपने से खुश हो जाते हैं। अपने पर मुग्ध हो जाते हैं।

उस खरगोश ने जब उस परिचित पानी में अपने को देखा होगा तो उसको लगा होगा कि यह हो सकता है, यह विचार उसके मन में आया हो। यह विचार उसके मन में आता ही नहीं अगर उसकी दिनचर्या किसी स्कूल से घिरी होती। अगर वह मण्डराने के लिए, इधर–उधर समय बिताने के लिए स्वतंत्र न होता। इधर–उधर यूँ ही घूमते रहने के लिए, आवारा होकर घूमने के लिए समय न होता,

तो उसको अन्दाज़ ही नहीं होता कि कहाँ–कहाँ कितने कुएँ हैं। कितने सूखे हुए हैं, कितने में कितना पानी है जहाँ पर ऐसा किया जा सकता है।

बहरहाल, अन्त में उसने क्या किया यह आप सोचते हैं। और इस कहानी से हम अन्त में पाते हैं कि दरअसल कोई ऐसी स्पष्ट शिक्षा नहीं मिलती जिसको हम नैतिक शिक्षा कह सकें। बहुत–से लोग यह कहते हैं कि इसका सार संक्षेप इस तरह का होना चाहिए कि अक्ल बड़ी होती है। शेर बाहुबली था लेकिन खरगोश अक्लमन्द था। तब अक्ल का इस्तेमाल उसने कैसे किया। क्या आपके संस्कारी ढंग से किया? आजकल बहुत सारे स्कूल खुद को संस्कार स्कूल कहते हैं। कुछ लोग संस्कार माउंटेन या संस्कार वैली या कुछ और जोड़ देते हैं। क्या संस्कारी ढंग से उसने यह काम किया? या उसने कुछ गलत ढंग से किया और एक स्थिति पर विजय पाई? जब हम इस तरह के प्रश्नों से जूझते हैं तो हम पाते हैं दरअसल साहित्य हमको कोई ऐसा उत्तर नहीं देता। अच्छा साहित्य वास्तव में मुक्ति की गाथा है जिसका कोई संक्षेप सम्भव नहीं है। उसका लक्षण ही यही है।

इस दृष्टिकोण से जब हम देखते हैं और अपने बच्चों के बचपन पर विचार करते हैं तो हम ज़रूर यह विचार कर सकते हैं कि अगर बाल साहित्य के रास्ते में इतने अवरोध हैं तो ये अवरोध हटाना स्कूल की दैनन्दिनी को लचीला किए बगैर, शिक्षक के दिमाग को थोड़ा–सा खोले बगैर, अफसरों– मंत्रियों की पूरी व्यवस्था के चरित्र को थोड़ा और मानवीय बनाए बगैर सम्भव नहीं है।

इस संघर्ष का यह बृहत्तर स्वरूप हमारे सहज संघर्ष का, हमारे दैनिक संघर्ष का ही हिस्सा है कि हम जहाँ–जहाँ पुस्तकालय की जगह बनाने की कोशिश कर रहे हैं वहाँ–वहाँ दरअसल हमारे ये अतिरिक्त कर्म हैं जो हमें करने ही होंगे। संवाद के स्तर पर, लेखन के स्तर पर, एक माहौल बनाने के स्तर पर हम बच्चे की अवधारणा, खासकर बचपन की अवधारणा का भी विस्तार करते रहें। विकास करते रहें। लड़के और लड़कियों के सन्दर्भ में उसकी अलग–अलग व्याख्या करते रहें, और समाज को याद दिलाते रहें कि अभी यह सपना कितना लम्बा है जिसकी शुरुआत अभी हो रही है। और कितनी तरह के अवरोध इसके रास्ते में हैं जो कि शिक्षा से पैदा किए हुए नहीं हैं, जो संस्कृति के पैदा किए हुए हैं।

तभी इन अवरोधों को थोड़ा–थोड़ा खोला जा सकेगा। इस बातचीत को एक निष्कर्ष की तरफ पहुँचाने के लिए मैं आपको एक कहानी सुनाता हूँ। और उस कहानी का शिक्षा में क्या होगा इसकी कल्पना भी करूँगा आपके बीच जिससे आप समझ सकें, अन्दाज़ लगा सकें कि दरअसल बाल साहित्य की क्या समस्याएँ हैं। इस कहानी को मैंने एन.सी.ई.आर.टी. में काम करते हुए बच्चों को कई बार सुनाया। हर बृहस्पतिवार को, हमारे परिसर में ही एक स्कूल था। वहाँ कक्षा–1 में एक कहानी सुनाता था। कई बार दो–दो, तीनतीन कहानियाँ सुनानी पड़ती थीं। यह कहानी कई बार मुझे सुनाने का मौका मिला। पर इसको कहने का एक दिन का ऐसा अवसर था जिसे लेकर मैं पहले से बिलकुल तैयार नहीं था। लेकिन जिसके हो जाने पर मुझे लगा कि जैसे भाषा, बच्चों का मनोविज्ञान, साहित्य और दुनिया से इनका सम्बन्ध मेरे लिए एकाएक खुल गए, जो मैंने पढ़ते हुए, रिसर्च करते हुए कभी नहीं सोचा था। तो मैं उस दिन की कहानी आपको सुनाना चाहता हूँ। केवल कहानी नहीं, यह कहानी शंकर की लिखी हुई लोक कथा है।

साहित्य का सम्मोहन

कहानी है 'बुढ़िया की रोटी'। कहानी कुछ यूँ है कि एक गाँव में एक बुढ़िया रहती थी। झोपड़ी के सामने उसने एक चूल्हा बना रखा था। उस चूल्हे पर वह सुबह से रोटी बनाती थी। एक दिन सुबह उठकर जैसे ही उसने रोटी बनाई, उस झोपड़ी के सामने खड़े हुए नीम के ऊपर रहने वाला कौआ अचानक नीचे उतरा और रोटी को झपट के ले गया और जाकर सीधे नीम के ऊपर जा बैठा। बुढ़िया बहुत परेशान हुई। उसने पेड़ के पास जाकर पेड़ से कहा कि तुम अपनी डालियाँ ज़ोर–ज़ोर से हिलाओ कि कौआ मेरी रोटी ले गया। तो पेड़ ने कहा कि माताजी मैं तो अपनी डालियाँ तभी हिला पाता हूँ जब ज़ोर से हवा चले, मैं खुद तो नहीं हिला पाऊँगा। ऐसा कुछ उसने कहा होगा।

यह मैं कल्पना कर रहा हूँ। और कौआ तो यहाँ रहता है अगर मैं ज़ोर से डालियाँ हिलाता हूँ तो उसका घोंसला गिर पड़ेगा तो यह तो मुझसे नहीं होगा। माफ कीजिए। बुढ़िया बहुत हैरान हुई कि मैं इसके सामने ही रहती हूँ और फिर भी मेरी बात नहीं मान रहा है। तो वृक्षों के अमर शत्रु हैं लकड़हारे और गाँव में भी एक लकड़हारा रहता था।

बुढ़िया अपनी लाठी टेकती हुई लकड़हारे के घर गई। सुबह का समय था, लकड़हारा अभी–अभी उठा था कि बुढ़िया ने आकर दरवाज़े पर ज़ोर से दस्तक दी। वह आया और पूछा कि माताजी क्या बात है, सुबह–सुबह? बुढ़िया ने कहा कि मैं एक रोटी बना रही थी। रोटी जैसे ही बनी कौआ ले गया और नीम के पेड़ के ऊपर बैठ गया। और मैंने पेड़ से कहा कि तुम अपनी डालियाँ हिलाओ लेकिन वह मेरी बात नहीं मान रहा है। तो लकड़हारे ने कहा कि माताजी मैं क्या करूँ? तो तुम अपनी कुल्हाड़ी लेकर जाओ और पेड़ को धमकाओ कि मैं तुम्हें काट दूँगा अगर तुम कौए से नहीं कहोगे कि रोटी गिराओ। तो लकड़हारे ने कहा कि माताजी इतना प्रचार हो रहा है कि पेड़ नहीं काटने चाहिए, मैं तो बड़ी मुश्किल से अपनी आजीविका चला रहा हूँ। जंगल में जाकर काटता हूँ, ये तो अपने गाँव का पेड़ है, इसे कैसे काटूँगा? ये तो मुझसे नहीं होगा। शंकर ने इतने विस्तार से नहीं कहा है। मैं लकड़हारे का विमर्श थोड़ा फैला रहा हूँ।

पर्यावरण का युग है। इसलिए लकड़हारा चिन्तित हुआ हो। बहरहाल, लकड़हारे ने कहा कि माताजी मैं यह काम नहीं कर पाऊँगा। बुढ़िया और दुखी हुई। बुजुर्गों की बात नहीं मानते हैं। ये लोग बिलकुल ही सीधे–सीधे अवज्ञा पर

उतर आए हैं। तो उसको याद आया कि आसपास चूहे का एक बिल है। और चूहे अकसर उसकी झोपड़ी में आया करते थे। तो बुढ़िया चूहे के पास गई, उसने कहा निकलो बाहर, मेरी मदद करो। चूहे ने कहा, मैं आपकी क्या मदद कर सकता हूँ? मुझे तो आप हमेशा ही भगाती रहती हैं। बुढ़िया ने पूरी कहानी सुनाई। मैंने रोटी बनाई, कौआ मेरी रोटी लेकर पेड़ के ऊपर बैठ गया। मैंने पेड़ से कहा कि तुम ज़ोर–ज़ोर से अपनी डालियाँ हिलाओ मगर वो मानता नहीं है। फिर मैं लकड़हारे के पास गई। वो भी नहीं मानता कि पेड़ को काटने की धमकी दे। तो चूहे ने कहा कि मैं क्या करूँ? बुढ़िया बोली तुम लकड़हारे के घर पर जाकर उसकी मूँछ कुतर दो। तो शायद मान जाए। तो चूहे ने कहा, मैं तो पनीर खाता हूँ, कपड़े खाता हूँ, अच्छी–अच्छी रोटी खाता हूँ। लेकिन मूँछ कुतरने की कोशिश करूँगा तो मेरे दाँत ही टूट जाएँगे। तो मुझसे नहीं होगा। तो बुढ़िया और भी ज़्यादा दुखी हुई। उसे ध्यान आया कि मन्दिर के पास एक बिल्ली रहती है। वो वहाँ पहुँची, तो बिल्ली उस समय मुण्डेर पर बैठी हुई थी। बुढ़िया ने उसके पास जाकर पूरी कहानी सुनाई कि मेरी रोटी कौआ ले गया। पेड़ अपनी डालियाँ नहीं हिला रहा है। लकड़हारा पेड़ को धमकी देने को तैयार नहीं है। चूहा उसकी मूँछ कुतरने के लिए तैयार नहीं है। तो तुम चूहे को खा जाओ। चूहे के पीछे भागो। तो वह मान जाएगा। तो बिल्ली ने कहा, चूहा जिसकी तुम बात कर रही हो, बीमार–सा है, छोटा–सा है। और अभी सुबह का समय है तो इतनी जल्दी नहीं कर पाऊँगी। इस तरह उसने कुछ बहाना बनाया और माताजी को उसने भी निराश कर दिया। इस समय बुढ़िया को याद आया कि मन्दिर के पीछे एक कुत्ता रहता है। कुत्ते को वो कभी–कभी रोटी भी देती थी। तो वह कुत्ते के पास गई। और उसने कुत्ते को पूरी कहानी सुनाई।

देखिए, अनहोनी वफा का मामला है। कुत्ता मान गया और कुत्ता बिल्ली के पीछे भागा। बिल्ली चूहे के पीछे भागी। चूहा लकड़हारे के घर में घुसने लगा। पीछे–पीछे माताजी आ रही थीं। लकड़हारा समझ गया कि यह वही चूहा है जो मेरी मूँछ काटने आ रहा है। लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी उठाई। और वह पेड़ की तरफ गया। पेड़ भी हैरान हो गया कि लकड़हारा अपने गाँव का पेड़ काटने आ पहुँचा है, पता नहीं क्या होगा। तो उसने ज़ोर–ज़ोर से अपनी डालियाँ हिलाईं। और कौए को डर लगा, सचमूच में ये घोंसला नहीं गिर पड़े। कौए ने रोटी नीचे गिरा दी। रोटी सीधे बुढ़िया की थाली में गिरी। बुढ़िया खुश हुई और उसने खा ली।

ये कथा कुल मिलाकर कुछ इस तरह की है। अगर आप इस कथा के ज़रिए कुछ विचार आरम्भ करें, अब साहित्य की कुछ परिस्थितियों पर खुद नज़र डाल सकेंगे तो आपको दिखाई देगा कि साहित्य दरअसल क्या करता है। और कैसे करता है। आप इस बात पर विचार करें कि इस बीच में जबकि बुढ़िया तरह–तरह के लोगों के पास जा रही है, अपनी रोटी को वापस लेने के लिए, उस बीच में कौआ रोटी खाता नहीं है। पर कौए का यह स्वभाव नहीं है। कौआ इस पूरे नाटक के दौरान, जो समय बीत रहा है उस दौरान एक तरह से धैर्यपूर्वक इसके परिणाम की प्रतीक्षा करता है। हम देख रहे हैं कि कुछ हुआ नहीं, कौए के पास उसकी चोंच में रोटी सुरक्षित है।

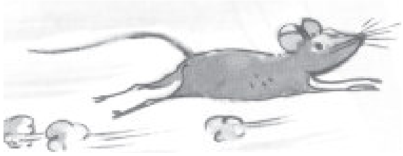

यानी कि समय के दो फलक चल रहे हैं एक समय जिसमें हम बुढ़िया के साथ आगे बढ़ रहे हैं। गाँव के तमाम चरित्रों से गुज़र रहे हैं। बुढ़िया के अनुभव जगत से, बुढ़िया के जज़्बातों से पेश आ रहे हैं। दूसरी तरफ कौआ, उसका एक और समय है जिसमें वह बैठा हुआ है। यह समय साहित्य ने पैदा किया है। यह समय संसार में नहीं है। वरना कौओं का स्वभाव होता है कि जो भी उन्होंने छीना है, झपटा है वह तुरन्त खा लेते हैं। साहित्य ने यहाँ पर संसार का एक तरह से पुनर्सृजन किया है। ये केवल साहित्य की छवि नहीं है, साहित्य ने संसार की यह छवि बनाई। उसका एक प्रतिबिम्ब है या उसका एक दर्पण है, इस तरह की बातें लोग करते हैं। यह भूल जाते हैं कि साहित्य संसार का नए सिरे से प्रबन्धन करता है तब जाकर पूरी कहानी बन पाती है। वरना यह कहानी बनना सम्भव ही नहीं है। जब तक ये तमाम चक्र हुआ कि इतना बड़ा मंत्री बिल्ली के पीछे दौड़ा। बिल्ली अधिकारी के पीछे दौड़ी, अधिकारी ज़िले स्तर के पटवारी के पीछे दौड़ा, ये तमाम चेन जब जाग्रत हुई और अन्त में कौए को डर लगा कि पेड़ मेरा घोंसला गिरा देगा।

यह मामला सिर्फ अगर इतना ही होता तो आप समझ सकते हैं कि जब पेड़ हिलाने का समय आता तब तक कौआ रोटी खाकर उड़ चुका होता। और इस रचना के ज़रिए जिस चीज़ की भी रचना हो रही है वो नीति है, या वह अनुभव है, या वो एक विचार है। जिस किसी की भी रचना हो रही है यहाँ पर, वह रचना सम्भव ही नहीं थी अगर कौए को इस मंच के एक हिस्से में रोक कर नहीं रखा जाता कि तुम अपनी प्रकृति के विपरीत कुछ देर धैर्य रखो, देखो इस बीच में क्या हो रहा है दुनिया में।

कौआ ऊपर से बैठकर एक तरह से यह सब देख रहा है। साहित्य के ज़रिए यह सम्भव होता है लेकिन हमारी निगाहें उस पर नहीं होतीं। इसलिए क्योंकि साहित्य एक तरह का सम्मोहन भी रचता है। और दरअसल हम इसीलिए इसको अपने ध्यान में नहीं ला पाते हैं कि ये कितनी अस्वभाविक बात है कि कौआ न खाए। अगर आप महाकाव्य पर गौर करें तो खलनायक भी किसी मर्यादा से संचालित होता है। हम यह देखते हैं रामायण, में बहुत बड़ी चीज़ है। नन्द दुलारे वाजपेयी बहुत बड़े समालोचक हुए जिन्होंने कहा कि रावण स्वयं एक मर्यादा से

संचालित है तब रामायण सम्भव हो पाती है। और उसका जो भी नीति शास्त्र है तब उभर पाता है। लोक साहित्य में हम लगातार देखते हैं कि साहित्य केवल बने बनाए संस्कारों, नियमों के आधार पर नहीं चलता है। वो नए संस्कारों को गढ़ता है। किस तरह गढ़ता है? इसी तरह गढ़ता है कि वो स्थान को, समय को, और ज्ञान को – इन तीनों को अपने ढंग से प्रबन्धित करता है।

शेर को क्या पता है और खरगोश को क्या पता है, दोनों का ज्ञान जगत थोड़ा–थोड़ा भिन्न है। और अलग–अलग स्तरों पर चल रहा है। तभी यह प्रबन्धन सम्भव होता है कि छोटा–सा जानवर, दुनिया का सबसे कमज़ोर जानवर, दुनिया के सबसे शक्तिशाली जानवर को मारने में समर्थ होता है। यह मामला सिर्फ अति का नहीं है। यह मामला कहानी के द्वारा समय, स्थान और ज्ञान के प्रबन्धन का है।

ये सारे विषय दरअसल शिक्षा के लिए बड़े उपयोगी हैं, लेकिन स्वयं शिक्षा इनको लेकर एक प्रकार से, आप कह सकते हैं कि अन्धी है। या शिक्षा में अभी इस बारीक विमर्श की गुंजाइश नहीं पैदा हुई है कि इसके ज़रिए हम शिक्षकों को, माता–पिताओं को आश्वस्त कर सकें कि बाल साहित्य का या साहित्य मात्र का बच्चे के हरेक पक्ष से सम्बन्ध है। बच्चे की कल्पना से, उसके संज्ञान जगत से, उसके बुद्धि जगत से, उसके निर्णय जगत से – इन सभी से सम्बन्ध है और उसको किसी एक चीज़ में घेर देना उसको अनिवार्य कर देना है। ये बहुत बड़ी भूल होगी। इसके ज़रिए साहित्य का जो नुकसान हो रहा है वो तो होगा ही, बच्चे का सबसे ज़्यादा नुकसान होगा। यह आपके लिए चिन्ता का विषय होना चाहिए। साहित्य के विमर्श को अगर हम शिक्षा के विमर्श के साथ जोड़ते हुए दोनों को फैला सकें तो मैं समझता हूँ कि वो अवरोध किसी हद तक घटेगा। इस कहानी में और भी बहुत कुछ आप देखते हैं। आप देखते हैं कि समाज की रचना में हर स्थान, हर जगह का किस तरह का महत्व है। अगर बुढ़िया आज के समय की एक पात्र होती तो कहती कि मैं तो मुख्यमंत्री को जानती हूँ, क्यों बीच वालों के पास जाऊँ। मैं सीधे कुत्ते के पास जाती हूँ। आप समझ सकते हो कि तब यह कहानी ही नहीं होती। मैं जब एन.सी.ई.आर.टी. में था तो कई बार लोग, मैं चूँकि उनका परिचित हूँ, सीधे मेरे पास आते थे कि साहब मेरे साथ अन्याय हो रहा है। जब मैं कहता कि आपके यहाँ एक सेक्शन ऑफिसर है, एक डिप्टी सेक्रेट्ररी है, एक हेड ऑफ द डिपार्टमेंट है – उन सबसे आपकी फाइल गुज़री है। तो कहते थे कि आप

भी अफसर हो गए, आप भी उसी तरह की बातें करने लगे। ये जो लाल फीता है मैं उसको कटवाने के लिए आपके पास आया हूँ। मुझे इच्छा होती थी कि उनको बैठाकर 'बुढ़िया की रोटी' सुनाऊँ। आप समझिए, देखिए कि मैं कुत्ते के स्थान पर हूँ। अगर आपका काम कुत्ते ने कर दिया तो यह कहानी समाप्त हो जाएगी। और कहानी के ज़रिए यह जो संसार रचा गया है, यह बड़ा रोचक संसार है।

इस संसार को जीवित रखने के लिए पेड़ की भी ज़रूरत है, लकड़हारे की भी ज़रूरत है, चूहे की भी ज़रूरत है और बिल्ली की भी ज़रूरत है। और अगर आप चाहते हैं कि उन्हें शिक्षित किया जा सके, तो इनके ज़रिए गुज़रिए। बुढ़िया की तरह अपनी लाठी टेकते हुए उन अनुभवों से गुज़रिए, गुस्सा महसूस कीजिए। देखिए कि गाँव का क्या हाल हुआ है। उस गाँव का लकड़हारा सबसे बुज़ुर्ग औरत की बात नहीं सुन रहा है। उस गाँव का चूहा छोटा–सा काम करने के लिए, नाटक करने के लिए भी तैयार नहीं है। बुढ़िया जिस पेड़ के सामने रहती है वह पेड़ भी कुछ नहीं सुन रहा है। इसके ज़रिए कुछ सीखिए, बुढ़िया के अनुभव को इतना त्याज्य मत मानिए, इतना बेकार मत मानिए कि अब आपको उस अनुभव से गुज़रने की ज़रूरत ही न हो। संसार का, लोक जीवन का एक रूप जब कोई भी साहित्यक रचना देता है, बहुत गहराई से देता है। अगर वो एक सच्ची रचना है। और उस रचना के बारे में अगर आप उसका मूल रूप देखेंगे जो शंकर ने लिखा है तो आप स्वयं ही देखेंगे कि किताब के रूप में कुछ मानक तय होते हैं जिसकी मदद से हम अच्छा बाल साहित्य क्या है, उसको लेकर एक विमर्श चला सकते हैं।

एक विलक्षण पल

देखिए मैंने आपसे वायदा किया था कि मैं उस दिन की कहानी आपको बताऊँगा जिस दिन यह कहानी मेरे लिए शिक्षा, मनोविज्ञान, बचपन – तमाम चीज़ों के बारे में नए सिरे से सोचने का माध्यम बनी। उस दिन क्या हुआ। मैं इस कहानी को आठ–दस बार सुना चुका था। फिर भी यह कहानी उन बच्चों के बीच काफी लोकप्रिय रहती थी। और इसके साथ वे कई तरह के अभिनय भी करने लगे थे। जैसे कि बुढ़िया रोटी बेलती है तो वे बेलते थे। अन्त में जब रोटी बिल जाती है तो किस के साथ खाई होगी उसको लेकर चर्चा होती थी कि अचार के साथ खाई होगी, कोई कहता था नहीं उसने सब्ज़ी बनाई होगी या कहीं से ली होगी इत्यादि। इसके बाद बुढ़िया ने क्या किया होगा तो बच्चे कहते थे कि सो गई होगी। थोड़ी देर के लिए वो सो भी जाते थे वहाँ पर।

तो कई तरह से वे इस कहानी से जुड़ चुके थे। और उनके मानस में बुढ़िया और इन तमाम अन्य चरित्रों की बहुत गहराई से जगह बन चुकी थी। और वे इससे संतृप्त हो चुके थे, जैसा रसायन शास्त्र में कहते हैं। उस दिन सुबह चलते समय कुछ ऐसा ही दिमाग मेरा चला कि मैंने अपने साथ एक रोटी ले ली। रात की बची हुई थी। सुबह जब मैं आठ बजे घर से निकला तो डब्बा खोल के एक रोटी अपने साथ रख ली, प्लास्टिक की थैली में। और जब कहानी समाप्त होने को हुई यानी कि जब कौए ने घबराकर रोटी गिराई और वह रोटी सीधे बुढ़िया की थाली में गिरी, उस समय मैंने कहा, "बच्चों वह रोटी मेरे पास है। आप देखेंगे?" तो मैंने वह थैला खोल के रोटी दिखाई। आप कल्पना नहीं करेंगे, उस क्षण की कल्पना कर नहीं सकते कि वहाँ क्या हुआ होगा। अव्वल तो उस क्लास में हमेशा ही चार–पाँच बच्चे कुछ–न–कुछ शोर मचाते ही रहते थे। एकदम सन्नाटा छा गया और उसके बाद हरेक बच्चा उस रोटी को छूने के लिए लालायित हो रहा था। बाद में जब मैं निकलने लगा तो कई बच्चों ने पूछा कि "सर, आपको यह कहाँ से मिली?" यानी कि वो रोटी इस कहानी के द्वारा छू ली गई थी। और उनको विश्वास हो गया था। हालाँकि, वे आधुनिक युग के बच्चे हैं। टेलीविज़न देखते हैं। केन्द्रीय विद्यालयों में इंटरनेट भी आ चुका है। सब कुछ है लेकिन उनके ऊपर यह सब जादू और दुनिया और सम्मोहन– यह रहस्य खतम हो चुका है। फिर भी वे कुछ क्षणों के लिए यह मानने के लिए तैयार थे कि वो रोटी वही है जो कौए के मुँह से गिरी थी। और किसी–न–किसी प्रकार से मेरे हाथ में पहुँच गई है, और सर हमारे लिए लाए हैं वो रोटी। एक साधारण रोटी थी, इसमें जगह–जगह कुछ इस तरह के छेद बने हुए थे कि लगे हाँ, कौए की चोंच लग गई है। इसलिए एक बच्चे ने पूछा भी कि क्या यहीं पर उसने चोंच गड़ाई थी। और पूरी क्लास में हर बच्चे के हाथ से वह रोटी गुज़री। उन्होंने उसको छूकर देखा जैसे कि कोई बहुत बड़ी निराली चीज़ जो किसी संग्रहालय से लाई गई हो।

मैं उस दिन बहुत ही विचलित–सा महसूस कर रहा था कि यह जो चीज़ आज हुई है इस कक्षा में, इसकी किस तरह की मीमांसा करें। तो, उस शाम मुझे एहसास हुआ कि दरअसल यहाँ साहित्य ने एक ऐसा काम किया जो साहित्य का सबसे बुनियादी कर्म है। और यह है कि वो भाषा और संसार के बीच जो पुल भाषा ने बनाए थे, उनकी मरम्मत करता है। रोटी शब्द से जो चीज़ व्यंजित होती है उस

रोटी शब्द को दोबारा इस कहानी ने कहीं जाग्रत किया, दोबारा उसको सेंका। और उस रोटी में, उसको छू सकने में एक विलक्षणता का बोध इस कहानी के ज़रिए पैदा करना सम्भव हो गया। वरना रोटी इतनी साधारण चीज़ है। बड़ी मात्रा में जगह–जगह फेंकी जाती है, स्कूलों में भी फेंकी जाती है यदि अच्छी न बनी हो तो।

रोटी को लेकर आज की दुनिया में इस तरह से कोई नहीं सोचता जैसा नज़ीर ने सोचा होगा कि उन्होंने रोटियों पर एक पूरी कविता लिख डाली। रोटी एक साधारण चीज़ है लेकिन उस साधारण चीज़ को इस कृति ने एक असाधारणता थोड़ी देर के लिए दी। और निश्चित रूप से अगर आप तकनीकी सन्दर्भ में भी देखें तो वो सम्मोहन का समय था। अँग्रेज़ी में जिसे हम हिप्नोटिज़्म के नाम से जानते हैं। जो हमारे सामने होता है वो हमें नहीं दिखता, जो नहीं होता वो दिखता है। अगर जादूगर कहता है कि गुलाब का फूल तुम्हें सुंघा रहा हूँ, भले ही वह फूल कागज़ का हो उसमें भी हमें गुलाब की गन्ध आती है। इस कहानी में बहुत सहज ढंग से इसको सम्भव बनाया। एक तरह का चमत्कृत होने का वह क्षण था जिसमें एकदम समझ में आया कि यह जो तमाम मनोविज्ञान में कहा जाता है कि जब कोई बच्चा किसी चीज़ को नाम देता है कि यह बिल्ली है, कि यह मेज़ है तो वह बिल्ली या मेज़ एक पूरा जगत होती है उसके लिए। और उस शब्द में जगत व्यंजित होता है लेकिन कालान्तर में शब्द घिस जाता है। शब्द रचनाएँ, शब्द विन्यास घिसते–घिसते वहाँ पहुँचते हैं जहाँ हम भयानक–से–भयानक शब्दों का प्रयोग बिना इस बोध के करते हैं कि इससे किसी को चोट पहुँच रही होगी। हिंसा का पूरा रास्ता ही इसी तरह बढ़ा है दुनिया में। जहाँ शब्द पराजित होते हैं वहीं शस्त्र हमसे जीतते हैं और हम देख रहे हैं हमारे चारों तरफ अच्छे–से–अच्छे शब्द भी घिस गए हैं। उनमें अब जीवन नहीं बचा। वे केवल शब्द कोष में रह गए हैं। और हम इसका इस्तेमाल अच्छे, बुरे, गंदे ढंग से करते रहते हैं।

इस स्थिति में साहित्य इस बात की आशा जगाता है, साहित्य इस बात की सम्भावना जगाता है कि शब्द को दोबारा जाग्रत करना सम्भव है। जब कोई कवि, कहानीकार, कोई नाटककार अपने ढंग से किसी शब्द को खर्च करता है तो वो शब्द में नई जान डाल देता है। तब वो इस शब्द में जान ही नहीं डालता बल्कि वो शब्द के द्वारा व्यंजित किए जाने वाली चीज़ और उस शब्द के बीच सम्बन्ध को नए सिरे से स्थापित कर देता है। उसकी पुताई भी करता है, उसकी मरम्मत भी करता

है। वो हमारे लगातार टूटते हुए जीवन को, लगातार टूटते हुए संसार को, लगातार खण्डहर बनते हुए अनुभव जगत को मरम्मत का सुख देता है। और यह एहसास भी दिलाता है कि यह मरम्मत सम्भव है। तो भाषा का यह बहुत महत्वपूर्ण काम एक तरह से भाषा की संजीवनी शक्ति है, यह जिसको साहित्य के ज़रिए भाषा करवा पाती है। यह साहित्य भाषा का ही एक सेवक है। भाषा संजीवनी तभी तक है जब तक साहित्य का योगदान उसको मिल रहा है। लेकिन साहित्य की अपनी दशा हमारे बीच, हमारे शिक्षा जगत के बीच, हमारे बच्चों के बीच, बड़ों के बीच भी हमारी चिन्ता का विषय है अगर यह बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में बने। हम तब बाल साहित्य की एक ऐसी शुरुआत कर पाएँगे जब हमें पश्चिम जैसा बाल साहित्य लिखना है, वाले अन्दाज़ की जगह अपने सन्दर्भ में बाल साहित्य क्या होगा, यह सोचने की दिशा में कदम उठाएँ। क्योंकि हम देखते हैं कि अगर हम बाल साहित्य के इतिहास पर गौर करें तो न तो बहुत बड़े नाम मिलते हैं और थोड़े–बहुत जो बहुत बड़े नाम हुए भी हैं जिन्होंने कुछ रचनाएँ ऐसी दी हैं, उन नामों की आगे जाकर कोई परम्परा नहीं बचती या मिलती।

थोड़ी हवा नाक में घुस गई जैसे हम देखते हैं कि 'इब्न बतूता का जूता' एक बहुत बड़ी रचना है जो सर्वेश्वर ने आज से करीब 30–35 वर्ष पहले लिखी थी। लेकिन आप गौर करें कि उसके बाद क्या 'इब्न बतूता' जैसी और कोई रचना कोई लिख पाया जिसमें एक–एक जगह का, एक–एक शब्द का इस तरह से स्थान निर्धारित किया गया हो कि उसके ज़रिए जगत भी बनता हो – कि थोड़ी हवा नाक में घुस गई, घुस गई थोड़ी कान में? एक बार सर्वेश्वर जी के साथ ही मैं था जब किसी ने कहा कि थोड़ी हवा नाक में घुस गई, और दूसरी पंक्ति में, थोड़ी घुस गई कान में। यह सुनकर सर्वेश्वर जी बहुत आहत हुए। उन्होंने कहा कि आप समझ रहे हैं कि यहाँ थोड़ी–थोड़ी है। यानी थोड़ी नाक में घुस गई और थोड़ी कान में। आशय यह था उनका कि यह जो दूसरी पंक्ति है इसमें घुस गई पहले इसीलिए है कि जिससे आपको यह लगे कि यह बची हुई हवा नहीं है। जो कि नाक में नहीं घुस पाई थी, इसलिए कान में घुस गई। उसमें भी उतना ही वेग था। कवि इस तरह से सोच सकता है। सर्वेश्वर जी की इस कृति की परम्परा को आगे बढ़ा सकने वाले कवि या कविताएँ नहीं दिखाई देतीं।

हिन्दी साहित्य में अगर बाल उपन्यासों पर गौर करें तो 1958 में सत्य प्रकाश अग्रवाल नाम के एक उपन्यासकार ने पराग में एक पाठ लिखा – 'एक घर पाँच निघर'। अगर उसे आज भी गौर से पढ़ें तो आप महसूस करेंगे कि यह उपन्यास क्यों एक परम्परा नहीं बन सका। एक मील का पत्थर बन गया। लेकिन उसके बाद हम कोई कोशिश भी नहीं करते कि हम उस उपन्यास से सीखें कि बच्चों का उपन्यास क्या होता है या उसमें किस तरह की रचनाएँ सम्भव हैं – उस विधा के भीतर जो उसे खोलेंगी, फैलाएँगी। वैसे भी आप जानते हैं कि उपन्यास अभी भी हमारे समाज में एक विधा के रूप में स्थापित नहीं हुआ है।

अभी हमारा साहित्य का लेखक कभी इधर, कभी उधर झाँकता है। कभी उस जैसा लिखे, इस जैसा लिखे इस तरह से सोचता रहता है। बाल साहित्य के क्षेत्र में भी यही स्थिति है। बल्कि इससे भी बद्तर स्थिति है इसलिए हमें उत्कृष्ट रचनाओं पर विचार करके सोचना होगा कि हम बाल साहित्य के क्षेत्र में एक परम्परा का विकास कैसे कर सकें। इस परम्परा का विकास ज़ाहिर है कि हमारे बीच बाल साहित्य की समालोचना की परम्परा का भी आविर्भाव करेगा।

और इस विकास के चलते बाल साहित्य और शिक्षा के बीच के सम्बन्ध के खोए हुए, टूटे हुए अविकसित विमर्श का भी कुछ भला हो जाएगा।
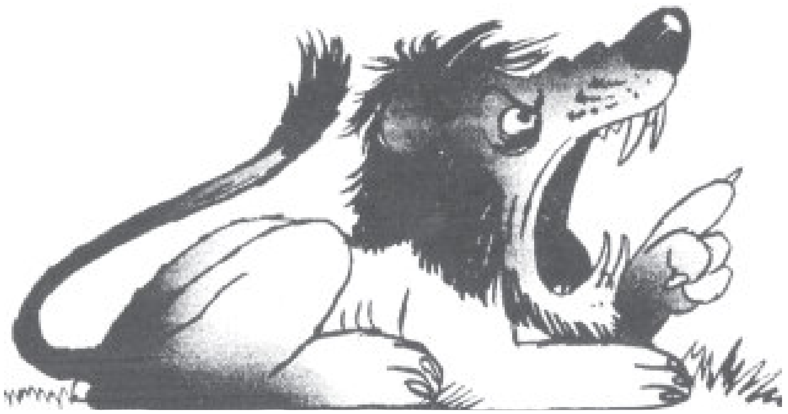
कृष्णकुमार– प्रसिद्ध शिक्षाविद एवं लेखक। शिक्षा के मुद्दों पर सतत चिन्तन एवं लेखन। राज, समाज और शिक्षाय बच्चे की भाषा और अध्यापक आदि चर्चित कृतियाँ हैं। एन.सी.ई.आर.टी. में कुछ साल निदेशक के रूप में कार्य किया है। लिप्यान्तरणः धुलेश्वर रावतः भोपाल की समावेश संस्था से जुड़े हैं। चित्रः पुस्तक 'बुढ़िया की रोटी' (लेखकः शंकर, चित्रः सुबीर राय, प्रकाशकः सी.बी.टी., नई दिल्ली)।